ब्रह्मचर्य : स्वरूप एवं साधना

राष्ट्रसन्त उपाध्याय अमर मुनि...

ब्रह्मचर्य की प्रशंसा कौन नहीं करता? हमारे शास्त्र ब्रह्मचर्य की महिमा का गान करते हुए कहते हैं -

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
वंभयारि नमसंति, दुक्करं जे करेन्ति तं॥

जो महान् पुरुष दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, समस्त दैवी शक्तियाँ उनके चरणों में सिर झुका कर खड़ी हो जाती हैं। देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ब्रह्मचारी के चरणों में लोटते हैं।

परन्तु हमें यह जानना है कि ब्रह्मचर्य कैसे प्राप्त किया जाता है और किस प्रकार उसकी रक्षा हो सकती है?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए एक बात पहले समझ लेनी चाहिए। वह यह है कि ब्रह्मचर्य का भाव बाहर से नहीं लाया जाता है। वह तो अन्तर में ही है, किन्तु विकारों ने उसे दबा रक्खा है।

जैन-धर्म ने यही कहा है कि बाह्य में ऐसी कोई भी नई चीज नहीं है, जो इस पिण्ड में न हो। केवल ज्ञान और केवल दर्शन की जो महान् ज्योति मिलती है, उसके विषय में कहने को तो कहते हैं कि वह अमुक दिन और अमुक समय मिल गई, किन्तु वास्तव में कोई नवीन चीज नहीं मिलती है। हम केवल ज्ञान, केवल दर्शन और दूसरी आध्यात्मिक शक्तियों के लिए आविर्भाव शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुत: केवल ज्ञान आदि शक्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं, आविर्भूत होती हैं। उत्पन्न होने का अर्थ नई चीज का बनना है, और आविर्भाव का अर्थ है - विद्यमान वस्तु का, आवरण हटने पर सामने आ जाना।

जैनधर्म प्रत्येक शक्ति के लिए आविर्भाव शब्द का प्रयोग करता है, क्योंकि किसी वस्तु में कोई भी अभूतपूर्व शक्ति उत्पन्न नहीं होती है।

तो आत्मा की जो शक्तियाँ हैं, वे अन्तर में विद्यमान हैं, किन्तु वासनाओं के कारण दबी रहती हैं। हमारा काम उन वासनाओं को दूर करना है। इसी को साधना कहते हैं। जैसे किसी पात्र को जंग लग गई है, किसी धातु के बरतन की चमक कम हो गई है, तो चमक लाने के लिए माँजने वाला उसे घिसता है, उसे साफ करता है। तो ऐसा करके वह कोई नई चमक उसमें पैदा नहीं करता है। उस बरतन में जो चमक विद्यमान है और जो बाह्य वातावरण से दब गई या छिप गई है, उसे प्रकट कर देना ही माँजने वाले का काम है। सोना, कीचड़ में गिर गया है और उसकी चमक छिप गई है। उसे साफ करने वाला सोने में कोई नई चमक बाहर से नहीं डाल रहा है, सोने को सोना नहीं बना रहा है, सोना तो वह हर हालत में है ही। जब कीचड़ में नहीं पड़ा था, तब भी सोना था और जब कीचड़ से लथपथ हो गया, तब भी सोना ही है और जब साफ कर लिया गया, तब भी सोने का सोना ही है। उसमें चमक पहले भी थी और बाद में भी है। बीच में, जब वह कीचड़ में लथपथ हो गया, तो उसकी चमक दब गई थी। माँजने वाले ने बाहर से लगी हुई कीचड़ को साफ कर दिया, आए हुए विकार को हटा दिया तो सोना अपने असली रूप में आ गया।

आत्मा के जो अनन्त गुण हैं, उनके विषय में भी जैन-धर्म की यही धारणा है। जैन-धर्म कहता है कि गुण बाहर से नहीं आते हैं, वे अन्दर ही रहते हैं। परन्तु आत्मिक विकार उनकी चमक को दबा देते हैं। साधक का यही काम है कि वह उन विकारों को हटा दे। विकार हट जाएँगे तो आत्मा के गुण अपनी असली आभा को लेकर चमकने लगेंगे।

हिंसामय विकार को साफ करेंगे तो अहिंसा चमकने लगेगी। असत्य का सफाया करेंगे तो सत्य चमकने लगेगा। इसी प्रकार स्तेय-विकार को हटाने पर अस्तेय और विषय-वासना को दूर करने पर संयम की ज्योति हमें नजर आने लगती है। जब क्रोध को दूर किया जाता है तो क्षमा प्रकट हो जाती है और लोभ को हटाया जाता है तो सन्तोष गुण प्रकट हो जाता है। अभिमान को दूर करना हमारा काम है, किन्तु नम्रता पैदा करने का कोई काम नहीं। वह तो आत्मा में मौजूद ही है। इसी प्रकार माया को हटाने के लिए हमें साधना करनी है, सरलता को उत्पन्न करने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं है। सरलता तो आत्मा का स्वभाव ही है। माया के हटते ही वह उसी प्रकार प्रकट हो जाएगी, जैसे कीचड़ धुलते ही सोने में चमक आ जाती है।

जैन-धर्म में आध्यात्मिक दृष्टि से गुणस्थान का बड़ा ही सुन्दर और सूक्ष्म विवेचन किया गया है। एक-एक गुणस्थान, उस महान् प्रकाश की ओर जाने का सोपान है । किन्तु उन गुणस्थानों को पैदा करने की कोई बात नहीं बतलाई है। यही बताया है कि अमुक विकार को दूर किया तो अमुक गुणस्थान आ गया। मिथ्यात्व को दूर किया तो सम्यक्त्व की भूमिका पर आ गए और अविरति को हटाया तो पाँचवे-छठे गुणस्थान को प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों विकार दूर होते जाते हैं, गुणस्थान की उच्चतर श्रेणी प्राप्त होती जाती है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, विरक्ति आदि आत्मा के मूलभाव हैं। ये मूल भाव जब आते हैं तो कोई बाहर से खींच कर नहीं लाए जाते। उन्हें तो सिर्फ प्रकट किया जाता है। हमारे घर में जो खजाना गढ़ा हुआ है, उसे खोद लेना मात्र हमारा काम है; उस पर लदी हुई मिट्टी को हटाने की ही आवश्यकता है। मिट्टी हटाई और खजाना हाथ लग गया। विकार को दूर किया और आत्मा का मूल भाव हाथ आ गया।

इस प्रकार जैन-धर्म की महान् साधना का एकमात्र उद्देश्य विकारों से लड़ना और उन्हें दूर करना ही है।

विकार किस प्रकार दूर किए जा सकते हैं, इस सम्बन्ध में भी जैन-धर्म ने निरूपण किया है। आचार्यों ने कहा है कि यदि अहिंसा के भाव समझ में आ जाते हैं तो दूसरे भाव भी समझ में आ जायेंगे। इसके लिए कहा गया है कि बाहर चाहे हिंसा हो अथवा न हो, हिंसा का भाव आने पर अन्तर में हिंसा हो ही जाती है। इसी प्रकार जो असत्य बोलता है, वह आत्महिंसा करता है और जब चोरी करता है तो अपनी चोरी तो कर ही लेता है। इस रूप में मनुष्य जब वासना का शिकार होता है तो अन्तर में भी और बाहर भी हिंसा हो जाती है। कोई विकार, चाहे बाहर हिंसा न करे, किन्तु अन्तर में हिंसा अवश्य करता है। दियासलाई जब रगड़ी जाती है, तो वह पहले तो अपने आपको ही जला देती है, और जब वह दूसरों को जलाने जाती है तो सम्भव है कि बीच में ही बुझ जाए और दूसरों को न जलाने पाए। मगर दूसरों को जलाने के लिए पहले स्वयं को तो जलाना पड़ता ही है। तो ऐसी कुभावना से क्या लाभ।

प्रत्येक वासना हिंसा है, ज्वाला है और वह आत्मा को जलाती है। अपने विकारों द्वारा हम तो नष्ट हो ही जाते हैं; फिर दूसरों को हानि पहुँचे या न पहुँचे। वातावरण अनुकूल मिल गया तो दूसरों को हानि पहुँचा दी और न मिला तो हानि न पहुँचा सके। किन्तु अपनी हानि तो हो ही गई। दूसरों की परिस्थितियाँ और दूसरों का भाग्य हमारे हाथ में नहीं है। अगर वह अच्छा है तो उन्हें हानि कैसे पहुँच सकती है? उन्हें कैसे जलाया जा सकता है? परन्तु दूसरे को जलाने का विचार करने वाला स्वयं को जरूर जला लेता है।

इस कारण हमारा ध्येय अपने विकारों को दूर करना है। प्रत्येक विकार हिंसा रूप है और यह नहीं भूलना चाहिए कि बाहर चाहे हिंसा हो या न हो, पर विकार आने पर अन्तर में हिंसा हो ही जाती है। अतएव साधक का दृष्टिकोण यही होना चाहिए कि वह अपने विकारों से निरन्तर लड़ता रहे और उन्हें परास्त करता चला जाए।

विकारों को परास्त किया कि ब्रह्मचर्य हमारे सामने आ गया। इस विवेचना से एक बात और समझ में आ जानी चाहिए कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए आवश्यक है कि हम दूसरी इन्द्रियों पर भी संयम रखें, अपने मन को भी काबू में रखें।

आप ब्रह्मचर्य की साधना तो ग्रहण कर लें, किन्तु आँखों पर अंकुश न रखें और बुरे से बुरे दृश्य देखा करें तो क्या लाभ? आँखों में जहर भरता रहे और संसार में रंगीन दृश्यों का मजा बाहर से तो लिया जाता रहे और ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखने का मंसूबा भी किया जाय यह असंभव है।

इस कारण भगवान महावीर का मार्ग कहता है कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए समस्त इन्द्रियों पर अंकुश रखना चाहिए। हम अपने कानों को इतना पवित्र बनाए रखने का प्रयत्न करें कि जहाँ गाली-गलौज़ का वातावरण हो और बुरे शब्द सुनने को मिल रहे हों, वहाँ हमें सावधान रहना चाहिए अथवा उस वातावरण से अलग रहना चाहिए। यदि शक्ति है तो उस वातावरण को बदल दें और यदि शक्ति नहीं है तो उससे अलग रहना ही श्रेयस्कर है। हमें कानों के द्वारा कोई भी विकारोत्तेजक शब्द मन में प्रवेश नहीं होने देने चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब गन्दे शब्द मन में प्रवेश पा जाते हैं तो वहाँ वे जड़ भी जमा सकते हैं। वे मन के किसी भी कोने में जम सकते हैं और धीरे-धीरे पनप भी सकते हैं, क्योंकि मन जल्दी भूलता नहीं है और जो शब्द उसके भीतर गूँजते रहते हैं, अवसर पाकर अनजाने में ही वे जीवन को आक्रान्त कर देते हैं। अतएव ब्रह्मचर्य के साधक को अपने कान पवित्र रखने चाहिए। वह जब भी सुने, पवित्र बात ही सुने और जब कभी प्रसंग आए तो पवित्र बात ही सुनने को तैयार रहे । गन्दी बातों का डटकर विरोध करना चाहिए - मन के भीतर भी और समाज के प्रांगण में भी। घरों में गाये जाने वाले गन्दे गीत तुरन्त ही बंद कर देने की आवश्यकता है।

मुझे मालूम हुआ है कि विवाह-शादियों के अवसर पर बहुत सी बहिनें गन्दे गीत गाती हैं। जहाँ विवाह का पवित्र वातावरण है, आदर्श है, और जब दो साथी अपने गृहस्थ-जीवन का मंगलाचरण करते हैं, उस अवसर पर गन्दे गीत उस पवित्र वातावरण को कलुषित करते हैं और मन में दुर्भाव उत्पन्न करते हैं।

जिस समाज में इस प्रकार का गन्दा वातावरण है, बुरे विचार हैं और कलुषित भावनाएँ सहसा पैदा हो जाती हैं, उस समाज की उदीयमान प्रजा किस प्रकार सुसंस्कारों और उज्ज्वल चरित्र वाली बन सकेगी? जो समाज अपने बालकों और बालिकाओं के हृदय में, कानों द्वारा जहर उँड़ेलता रहता है, उस समाज में पवित्र चारित्र और सत्त्वगुणी व्यक्तियों का परिपक्व होना कितना कठिन है।

आश्चर्य होता है जिन्होंने प्रतिदिन, वर्षों तक, सामयिक की, आगामों का प्रवचन सुना, वीतराग प्रभु और महान् आचार्यों की वाणी सुनी और सन्तों की संगति और उपासना की, उनके मुख से किस प्रकार अश्लील और गन्दे गाने निकलते हैं? शिष्ट और कुलीन परिवार किस हद तक इन गीतों को बर्दाश्त करते हैं? और कोई भी शीलवान् व्यक्ति कैसे ऐसे गीतों को सुनता है?

अश्लील गीत समाज के होनहार कुमारों और कुमारिओं के हृदय में वासना की आग भड़काने वाले हैं, कुलीनता और शिष्टता के लिए चुनौती हैं और समग्र वायुमंडल को विषमय बनाने वाले हैं।

मैं नहीं समझ पाता कि जो पुरुष और नारियाँ ऐसे अवसर पर इतनी नीचाई पर पहुँच जाते हैं, उन्होंने वर्षों की साधना क्यों की है? उनकी साधनाओं ने अगर कोई आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न की, तो वह कहाँ गायब हो जाती है? इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि उनकी वर्षों की साधनाएँ ऊपर-ऊपर की हैं, वे आईं और तैर गईं, उन्होंने जीवन को कोई संस्कार नहीं दिया। यह निष्कर्ष भले ही कटु है, पर मिथ्या नहीं है, साथ ही हमारी आँखें खोल देने वाला भी है।

यह समझना गलत है कि वे भद्दे गीत क्षणिक और मन की तरंग मात्र है। जलाशय में जल की तरंग उठती है, पर तभी उठती है, जब उसमें जल जमा होता है। जहाँ जल ही न होगा, वहाँ जलतरंग नहीं उठेगी। इसी प्रकार जिस मन में अपवित्रता और गंदगी के कुसंस्कार न होंगे, उस मन में अपवित्र गीत गाने की तरंग भी नहीं उठनी चाहिए। अतएव यही अनुमान किया जा सकता है कि मन में विकार जमे बैठे थे, प्रसंग आया तो बाहर निकल आए।

बहुत से लोग बात-बात में गालियाँ बकते हैं। उनकी गालियाँ उनकी असंस्कारिता और फूहड़पन को सूचित करती हैं, परन्तु यहीं उनके दुष्परिणाम का अन्त नहीं हो जाता है। उनकी गालियाँ समाज में कलुषित वायुमंडल का निर्माण करती हैं। उनकी देखादेखी छोटे-छोटे बच्चे भी गालियाँ बोलना सीख जाते हैं। जिन फूलों को खिलोने पर सुगन्ध देनी चाहिए, उनसे जब हम अभद्र शब्दों और गालियों की बदबू निकलती देखते हैं, तो दिल मसोस कर रह जाना पड़ता है। मगर बालकों की उन गालियों के पीछे वे बड़े हैं, जो विचारहीनता के कारण अपशब्दों का प्रयोग करते रहते हैं।

जिस समाज में इस प्रकार की विचारधारा बह रही हो, उस समाज की अगली पीढ़ियाँ देवता का रूप लेकर नहीं आने वाली हैं। अगर आपके जीवन में से राक्षसी वृत्तियाँ नहीं निकली हैं तो आपकी सन्तान में दैवी वृत्तियों का विकास किस प्रकार हो सकता है? देवता की सन्तान देवता बनेगी, राक्षसों की सन्तान देवता नहीं बन सकती।

ये बातें छोटी मालूम होती हैं परन्तु छोटी-छोटी बातें भी समय पर बड़ा भारी असर पैदा करती हैं। एक प्राचीन दार्शनिक आचार्य ने परमात्मा से बड़ी सुन्दर याचना करते हुए कहा है -

भद्रं कर्णाभ्याम् शृणुयामः शरदः शतम् ।
भद्रमक्षिण्यपि पश्यामः शरदः शतम् ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभो! मैं अपने जीवन के सौ वर्ष पूर्ण करूँ तो अपने कानों से भद्दी बातें न सुनूँ। भद्र बातें ही सुनूँ। अच्छी-अच्छी और सुन्दर बातें ही सुनूँ। मेरे कानों में पवित्रता का प्रवाह सर्वदा बहता रहे। कभी अभद्र संगीत, गाली अथवा कहावत कानों से न सुनूँ।

हमारे दार्शनिक और हमारे आचार्य इस प्रकार की भावना हमारे समक्ष रखना चाहते हैं।

जो बात कानों के विषय में कही गई है, वही आँखों के विषय में भी कही गई है। कोई भी मनुष्य अपनी आँखों पर पर्दा डाल कर नहीं चल सकता। आँखें हैं तो उनके सामने संसार आएगा, फिर भी हमें उस महान् जीवन के अनुरूप विचार करना है कि जब भी कोई अभद्र हमारे सामने आए और हम देखें कि हमारे मन में विकारों का बहाव आ रहा है तो आँखें बन्द कर लें या अपनी निगाह दूसरी ओर कर लें। आँखों के द्वारा अमृत भी आ सकता है और जहर भी आ सकता है, किन्तु हमें तो अमृत ही लेना है। संसार में बैठे हैं तो क्या हुआ, लेंगे तो अमृत ही लेंगे।

एक वृक्ष है। उसमें फूल भी हैं और काँटें भी हैं। माली उसमें से फूल लेता है, काँटें नहीं लेता। हमें भी माली की तरह संसार के फूल ही लेने हैं, उसके काँटे नहीं। संसार की अभद्रता हमारे लिए काँटा स्वरूप है, वह त्याज्य है। कोई चाहे कि सारा संसार अच्छा बन जाए तो मैं भी अच्छा बन जाऊँ - यह संभव नहीं है। दुनिया में दो रंग सर्वदा ही रहेंगे। अतएव हमें इस बात का ध्यान सर्वदा ही रहना चाहिए कि संसार अच्छा बने या न बने, हमें तो अपने जीवन को अच्छा बना ही लेना है। यह नहीं कि हजारों दिवालिए दिवाला निकाल रहे हैं, तो एक साहूकार भी क्यों न दीवाला निकाल दे? हाँ, संसार के कल्याण की कामना करो, संसार के कल्याण के लिए अपनी शक्तियों का प्रयोग भी करो, मगर संसार के सुधार तक अपने जीवन के सुधार को मत रोको। संसार की बातें संसार पर छोड़ो और पहले अपनी ही बात लो। आप अपना सुधार कर लेते हैं तो वह संसार के सुधार का ही एक अंग है। आत्मसुधार के बिना संसार को सुधारने की बात करना एक प्रकार की हिमाकत है, अपने आपको और संसार को ठगना है। जो स्वयं को नहीं सुधार सकता, वह संसार को क्या सुधारेगा।

यह एक ऐसा तथ्य है जिसमें कभी विपर्यास नहीं हो सकता। जैन-इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर यह सत्य अपनी अमिट छाप लिए बैठा है। तीर्थङ्करों की जीवनियों को देखिए। जब तक वे सर्वज्ञता और वीतरागता नहीं प्राप्त कर लेते, आत्मा के विकास की उच्चतम श्रेणी पर नहीं पहुँच जाते, उस समय तक जगत् के उद्धार करने के प्रपंच से दूर ही रहते हैं। और जब वे यह स्थिति प्राप्त कर लेते हैं तो कृतकृत्य और कृतार्थ होकर जगत् का उद्धार करने में लग जाते हैं।

इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हम आँखों से सौ वर्ष तक भद्र रूपों को ही देखें, सन्तों के ही दर्शन करें। जो अभद्र रूप हैं, वे हमारी दृष्टि से ओझल ही रहें।

यह प्रार्थना कर आचार्य आगे चल कर कहते हैं - जो कानों से भद्र शब्द ही सुनेगा और आँखों से भद्र रूप ही देखेगा और अभद्र शब्दों और रूपों से विमुक्त होकर रहेगा, उसका जीवन इतना सुन्दर बन जाएगा कि वह दीर्घ आयु प्राप्त करेगा और शतजीवी होगा।

तो यही कानों और आँखों का ब्रह्मचर्य है और इसी से अन्दर के ब्रह्मचर्य को पार किया जा सकता है। कोई कानों और आँखों को खुला छोड़ दे, उन पर अंकुश न रखे, फिर चाहे कि उसमें आध्यात्मिक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाएँ, तो यह असंभव है। इसी कारण हमारे यहाँ नौ बाड़ों का वर्णन आया है और वह वर्णन बड़े ही सुन्दर रूप में है।

हमारे शरीर में जीभ भी एक महत्त्वपूर्ण अंग है। मनुष्य का शरीर कदाचित् ऐसा बना होता कि उसे भोजन की आवश्यकता ही न होती और यों ही कायम रह जाता तो मैं समझता हूँ, नौ सौ निन्यानवे संघर्ष कम हो जाते। किन्तु ऐसा नहीं है। शरीर आखिर शरीर ही है और उसकी कुछ न कुछ क्षतिपूर्ति करनी ही पड़ती है। इस दृष्टि से जीभ का काम बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

संसार में भोजन की अच्छी-बुरी बहुत सी चीजें मौजूद हैं। कोई भी चीज हाथ से उठाई और मुँह में डाल ली। अब वह अच्छी है या बुरी है, इसका निर्णय कौन करे? उसकी परीक्षा कौन करे? यह सत्य कौन प्रकट करे? यह जीभ का काम है। वह वस्तु की सरसता और नीरसता का और अच्छेपन बुरेपन का अनुभव करती है और उसे दूसरों पर प्रकट करती है। तो जिह्वा का काम वस्तुओं की परख करना और बोलना है। किन्तु आज उसका काम पेटपूर्ति करना ही बन गया है। चीज अच्छी है या नहीं, परिणाम में सुखद है या नहीं, शरीर के लिए उपयोगी है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या अनुपयोगी, जीवन को बनाने वाली है या बिगाड़ने वाली, इसका कोई विचार नहीं। बस, जीभ को अच्छी लगनी चाहिए। जीभ को जो अच्छा लगा, सो गटक लिया। इस प्रकार खाने की न कोई सीमा रही है, न मर्यादा रही है।

खाने के लिए जीना, धर्म का लक्षण नहीं है। खाने का अर्थ है - शरीर की क्षति और दुर्बलता की पूर्ति करना और जीवन-निर्माण के लिए आवश्यक शारीरिक शक्ति प्राप्त करना। जहाँ यह दृष्टि है, वहाँ ब्रह्मचर्य की शुद्धि रहती है। जहाँ यह दृष्टि नहीं रहती, वहाँ जीभ निरंकुश होकर रहती है, मिर्च-मसालों की ओर लपकती है। इसीलिए कभी-कभी सीमा से अधिक खा लिया जाता है। ऐसा करने से शरीर का रक्त खौलने लगता है और शरीर में गर्मी आ जाती है। शरीर में गर्मी आ जाने पर मन में भी गर्मी आ जाती है। मन में गर्मी आ जाती है तो साधक भान भूल जाता है और जब भान भूल जाता है तो दुनिया भर की चीजें खाने को तैयार हो जाता है।

आज का चौका देखो तो मालूम होता है कि घर के लोग खाने के सिवाय और कुछ भी नहीं जानते हैं। दुनिया भर का अगड़म-बगड़म वहाँ मौजूद रहता है। ऐसे मौके भी देखने में आए हैं कि यदि सन्त वहाँ पहुँच गए और आग्रह स्वीकार कर लिया तो उन चीजों को लेने-देने में आधा घण्टा लग गया।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने स्वाद के लिए अनेक-अनेक आविष्कार कर लिए हैं। भोजन के भाँति-भाँति के रूप तैयार कर लिए हैं। यह पेट के लिए नहीं, जीभ के लिए, स्वाद के लिए तैयार किए हैं। यह चार अंगुल का मांस का जो टुकड़ा (जीभ) है, उसका फैसला ही नहीं हो पाता। नाना प्रयत्न करने के पश्चात् भी जीभ तृप्त नहीं हो पाती। जीभ की आराधना के लिए मनुष्य जितना पचता है और प्रयत्न करता है, उसका आधा प्रयत्न भी अगर वह परमात्मा की आराधना के लिए करे तो उसका कल्याण हो जाए। मगर इतना प्रयत्न करने पर भी वह कहाँ सन्तुष्ट होता है। वह तो जब देखो तब लार टपकाती रहती है, अतृप्त ही बनी रहती है। मनुष्य मांस के इस टुकड़े के पीछे अपनी सारी जिन्दगी को बर्बाद कर देता है।

बचपन के दिन निकल जाते हैं, जवानी भी आकर चली जाती है और बुढ़ापे के दिन आ जाते हैं, तब भी बचपन की वृत्तियों से छुटकारा नहीं मिलता है। बुढ़ापे में भी खाने के लिए लड़ाइयाँ मची रहती हैं, संघर्ष होते हुए देखे जाते हैं।

यह स्थिति देखकर विचार होता है कि साठ-सत्तर वर्ष की जिन्दगी में मनुष्य ने क्या सीखा है? कभी-कभी पुराने सन्तों को भी हम जिह्वाशवर्ती देखते हैं? आहार आया और उनके सामने रख दिया। वे कहते हैं - क्या लाए? कुछ भी तो नहीं लाए। बुढ़ापे में भी जिसकी यह वृत्ति हो, उसने जीवन के बहुमूल्य सत्तर वर्ष व्यतीत करने के बाद भी क्या पाया है? रोटी आई है, दाल-शाक आया है, फिर भी कहते हैं -कुछ नहीं आया। इसका अर्थ यह है कि पेट के लिए तो सब कुछ आया है, पर जीभ के लिए कुछ नहीं आया।

तो इस चार अंगुल की जीभ पर नियंत्रण न कर सकने के कारण ही कभी-कभी मुसीबत का सामना करना पड़ता है। जीभ के सम्बन्ध में जब विचार करते हैं तो एक बात याद आ जाती है।

समर्थ गुरु रामदास वैष्णव सन्त थे। उन्होंने एक जगह चौमासा किया। आप जानते हैं कि जहाँ नामी गुरु आते हैं, वहाँ भक्त भी पहुँच ही जाते हैं। एक युवक व्यापारी था और अच्छे घर का लड़का था। वह और उसकी पत्नी रामदासजी के भक्त हो गए और उनकी आध्यात्मिक बातें सुनने लगे। इधर आध्यात्मिक बातें सुनते थे और उधर यह हाल था कि खाने के लिए रोज लड़ाई होती थी। किसी दिन रोटी सख्त हो गई तो कहा - 'रोटी क्या है, पत्थर है।' और जरा नरम रह गई तो बोले - 'आज तो कच्चा आटा ही घोल कर रख दिया है।'

इस प्रकार पति-पत्नी में प्रतिदिन संघर्ष मचा रहता। तो एक दिन उस युवक ने कहा - इससे तो साधु बन जाना ही अच्छा।

युवक ने जब ऐसी बात कही तो उसकी पत्नी डर गई। उसे ख्याल आया, कहीं सचमुच ही यह साधु न बन जाए।

किन्तु भोजन के प्रश्न पर उन दोनों में एक दिन कहा-सुनी हो ही गई। युवक ने क्रोध में आकर थाली को ऐसी ठोकर लगाई कि रोटी कहीं और दाल कहीं जाकर गिरी । फिर वह बोला - बस, भोग चुके गृहस्थी का सुख। हाथ जोड़े इस घर को। अब तो साधु ही बन जाना है।

इस प्रकार कहकर वह घर से निकला और सीधा बाजार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का रास्ता नाप कर हलवाई की दुकान पर पहुँचा। वहाँ उसने पेट भर खाना खा लिया। मगर स्त्री के लिए यह समस्या कितनी कठिन थी? युवक ने तो अपना पेट भर लिया, मगर स्त्री बेचारी क्या करती? वह उसके बिना खाना कैसे खाती? उसे भूखा रहकर ही दिन गुजारना पड़ा।

दूसरी बार फिर इसी प्रकार की घटना घटी। संयोगवश समर्थ गुरु रामदास भी वहाँ पहुँच गए। उन्हें देख कर स्त्री ने सोचा - कहीं इन्हीं के पास न मुड़ जाएँ, और वह जोर-जोर से रोने लगी।

गुरु विचार में पड़ गए। स्त्री फफक-फफक कर रो रही थी और जब उन्होंने रोने का कारण पूछा तो वह और ज्यादा रोने लेगी। गुरु ने कहा - आखिर बात क्या है? घर में तुम दो प्राणी हो और वर्षों से साथ-साथ रह रहे हो। फिर भी दृष्टिकोण में मेल नहीं बैठा सके।

तब स्त्री ने कहा - इनको मेरे हाथ का बना खाना अच्छा नहीं लगता है और कहते हैं कि साधु बन जायेंगे।

गुरु ने यह बात सुनी तो कहा - तुम्हें यह डर है तो उसे निकाल दो, क्योंकि मियाँ की दौड़ मस्जिद तक ही है। साधु बनने के लिए आएगा तो मेरे पास ही। मैं देख लूँगा कि वह कैसा साधु बनने वाला है। तुझे धमकी दे तो तू कह देना कि साधु बनना है तो बन क्यों नहीं जाते। इतना कहकर गुरु लौट गए।

एक दिन जब फिर वैसा ही प्रसंग आया, तो युवक ने कहा - अच्छा तो मैं साधु बन जाऊँगा।

स्त्री ने कह दिया - रोज-रोज साधु बनने का डर दिखलाने से क्या लाभ है? आपको साधु बनने में ही सुख मिलता हो तो आप साधु बन जाइए। मुझे जीवन चलाना है तो किसी तरह चला लूँगी।

युवक ने भी भड़क कर कहा - अच्छा, यह बात है। तो अब जरूर साधु बन जाऊँगा।

यह कह कर वह घर से निकल पड़ा। मन में सोचा - साधु ही बनना है। और वह समर्थ रामदास के पास जाकर बैठ गया। बहुत देर तक बैठा रहा। बातचीत करने के बाद उसने गुरु से कहा - आज आहार लेने नहीं पधारे?

गुरु ने कहा - आज चेला आया है, इस कारण हमें प्रसन्नता है। आज आहार नहीं लाना है, व्रत रखेंगे।

गुरु का उत्तर सुन कर युवक विचार में पड़ गया। फिर उसने कहा - गृहस्थ धर्म से मैं ऊब गया, महाराज। अब मैं साधु-धर्म का पालना करना चाहता हूँ। आज्ञा दो महाराज।

गुरु बोले - मिल जाएगी आज्ञा।

मगर युवक के लिए तो एक-एक पल, पहर की तरह कट रहा था। उसने कहा - गुरुदेव, भूख के मारे मेरी तो आँतें कुलबुला रही हैं।

गुरु - अच्छा, नीम के पत्ते सूँत लाओ और उन्हें पीसकर गोले बना लो।

उसने ऐसा ही किया। नीम के पत्ते पीस कर गोले बना लिये।

फिर वह सोचने लगा - यह खाने की चीज नहीं है, किन्तु गुरु जादूगर हैं तो उनके प्रभाव से यह गोले मीठे बन जाएँगे।

गोले तैयार हो गए देख गुरु ने कहा - अब तुम्हें जितना खाना हो सो खा लो।

युवक ने ज्योंही एक गोला मुँह में डाला तो वह जहर था। उसे वमन हो गया। जब वमन हो गया तो गुरु ने कहा - दूसरा उठाकर खाओ। और फिर वमन किया तो इस डंडे को देख रखो। यहाँ तो रोज यही खाने को मिलेगा।

युवक ने कहा - महाराज, इसे आदामी तो नहीं खा सकता।

तब समर्थ रामदास ने एक लड्डू उठाया और झटपट खा लिया।

युवक - आप तो खा गये, पर मुझसे तो नहीं खाया जा।

गुरु -तेरी वाणी पर साधुपन आया है, अन्दर नहीं आया। अरे मूर्ख, उस लड़की को क्यों तंग किया करता है? साधु बनने का ढोंग क्यों करता है? साधु बनकर भी क्या करेगा? साधु बन गया और बाद में गड़बड़ की तो ठीक नहीं होगा।

अब युवक की अक्ल ठिकाने आई। वह घर लौट आया। फिर उसने यह देखना बन्द कर दिया कि रोटी सख्त है, या नरम है, कच्ची है या पक्की है, चुपचाप शान्त भाव से वह लगा।

जिनके घर में खाने-पीने के लिए ही महाभारंत का अध्याय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बँचा करता है, वे ऊँचे जीवन की साधना को कैसे प्राप्त कर सकते हैं? अतएव जो साधना करना चाहते हैं, उन्हें खान-पान की लोलुपता को त्याग देना चाहिए और वास्तविक आवश्यकता से अधिक नहीं खाना चाहिए।

हे मनुष्य! तू खाने के लिए नहीं बना है, किन्तु खाना तेरे लिए बना है। तुझे भोजन के लिए नहीं जीना है, जीने के लिए भोजन करना है। भोजन तेरे जीवन - विकास का साधन होना चाहिए। कहीं वह जीवन-विनाश का साधन न बन जाए।

इस प्रकार कान और आँख के साथ-साथ जो जीभ पर भी पूरी तरह अंकुश रखते हैं, वही ब्रह्मचर्य की साधना कर सकते हैं। जो अपनी जीभ पर अंकुश नहीं रखेगा और स्वाद-लोलुप होकर चटपटे मसाले आदि उत्तेजक वस्तुओं का सेवन करेगा, जो राजस और तामस भोजन करेगा, उसका ब्रह्मचर्य निश्चय ही खतरे में पड़ जाएगा।

ब्रह्मचर्य की साधना जितनी उच्च और पवित्र है, उतनी ही उस साधना में सावधानी की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए इन्द्रियनिग्रह की आवश्यकता है और मनोनिग्रह की भी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य के साधक को फूँक-फूँक कर पैर रखना पड़ता है। यही कारण है कि हमारे यहाँ, शास्त्रकारों ने, ब्रह्मचारी के लिए अनेक मर्यादाएँ बतलाई हैं। शास्त्र में कहा गया है -

आलओ थीजणाइण्णो, थी - कहा य मणोरमा ।
सथवो चेव नारीणं, तेंसिमिन्दिय - दंसणं ॥
कूइयं रुइयं गीअं, हास भुत्तासिआणि य ।
पणीअं भत्तयाण च, अइमायं पाण भोयणं ॥

स्त्रीजनों से युक्त मकान में रहना और बहुत आवागमन रखना, स्त्रियों के सम्बन्ध को लेकर मनोमोहक बातें करना, स्त्री के साथ एक आसन पर बैठना, बहुत घनिष्ठता रखना, उनके अंगोंपांगों की ओर देखना, उनके कूजन, रुदन और गायन को मन लगा कर सुनना, पूर्व-भुक्त भोगोपभोगों का स्मरण किया करना। उत्तेजक आहार-पानी का सेवन करना और परिमाण से अधिक भोजन करना, ये सब बातें ब्रह्मचारी के लिए विष के समान हैं। और यही बात ब्रह्मचारिणी को भी समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि कान, आँख जीभ तथा मन जो जितना काबू पा सकेगा, वह उतनी ही दृढ़ता के साथ ब्रह्मचर्य की साधना के पथ पर अग्रसर हो सकेगा। इस रूप में जो जीवन को सीधा-साधा बनाएगा, उसमें पवित्रता की लहर पैदा हो जाएगी और वह अपने जीवन को कल्याणमय बना सकेगा। तब सारी जड़ और जीव प्रकृति पर उसका निष्कटंक शासन स्थापित हो जाएगा।

—ब्रह्मचर्यदर्शन से साभार

ब्रह्मचर्य-सूत्र -

अबम्भ चरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं।
नायरन्ति मुणी लोए, भेयाय यण वज्जिणो ॥1॥

जो मुनि संयम-घातक दोषों से दूर रहते हैं, वे लोक में रहते हुए भी दुःसेव्य, प्रमादस्वरूप और भयंकर अब्रह्मचर्य का कभी सेवन नहीं करते।

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीर - परिमंडणं।
बंभचेर रओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥2॥

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शृंगार के लिए शरीर की शोभा और सजावट का कोई भी शृंगारी काम नहीं करना चाहिए।

जहाँ दवग्गी पउरिन्धणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगाम भोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥3॥

जैसे बहुत ज्यादा ईंधन वाले जंगल में पवन से उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती, उसी तरह मर्यादा से अधिक भोजन करने वाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती। अधिक भोजन किसी के लिए भी हितकर नहीं होता।

कामाणुगिद्धिप्प भवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्सन्तगं गच्छई वीयरागो ॥4॥

देवलोक सहित समस्त संसार के शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःख का मूल एक मात्र काम-भोगों की वासना ही है। जो साधक इस सम्बन्ध में वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

देव दाणव गन्धव्वा, जक्ख रक्खस किन्नरा।
बंभयारि नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति तं ॥5॥

जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं।

— महावीरवाणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org